Chap-7

सप्तम अध्याय

उपसंहार

:: सप्तम् अध्याय ::

:: उपसंहार ::

उपन्यास इस नये युग का नया साहित्य प्रकार है । उसकी गणना कथा-साहित्य में होती है , और जहाँ तक कथा-साहित्य का सवाल है , वह हमारे यहाँ प्राचीन समय से मिलता है । फिर उसे नया क्यों कहा जा रहा है ? कारण यह है कि अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति दोनों दृष्टियों से वह उस पुराने कथा-साहित्य से अलग पड़ता है । प्राचीन कथा-साहित्य कथा-रूढ़ों (स्टोरी-मोटिफ) पर निर्मित होता था , जब कि यह नया साहित्य प्रकार जीवन की नवीन से नवीनतम समस्या से जुड़ता है । उसमें प्राधान्य केवल कथा-वस्तु का रहता था , यहाँ चरित्र-चित्रण को महत्त्व मिलता है । उसमें काल्पनिकता और वायवीता होती थी , चमत्कारों को

प्राधान्य रहता था ; यहाँ यथार्थ और वास्तविकता है , चमत्कारों का छेद उड़ गया है । उसमें वातावरण या देशकाल का कोई खास महत्व नहीं होता था । "एकस्मिन काले " से भी काम चला लिया जाता था , जबकि यहाँ वातावरण या देशकाल उसका एक मुख्य तत्व है , उससे उपन्यास को जीवन्तता प्राप्त होती है । गरज यह कि अनेक मामलों में आज का यह उपन्यास-साहित्य उस प्राचीन कथा-साहित्य से भिन्न पड़ता है ।

उपन्यास अंग्रेजी के "नोवेल" का हिन्दी पर्याय है । गुजराती और मराठी में उसे "नवलकथा" कहा गया है । "नोवेल" शब्द का अर्थ ही है — नया । हिन्दी तथा बंगला में उसे ही "उपन्यास" संज्ञा प्राप्त हुई । हमारा यह साहित्य-प्रकार नया है , किन्तु उसका यह नामकरण — उपन्यास — उसमें जो शब्द प्रयुक्त हुआ है , वह नया नहीं है । हमारी नाट्य-परंपरा में यह शब्द प्रतिमुख संधि के एक उपभेद के रूप में मिलता है । वहाँ उसका अर्थघटन दिया गया है — "उपपत्ति कृतो ह्यर्थः उपन्यासः " तथा " उपन्यासः प्रसादनम् " । अर्थात् उपन्यास नाटक का वह अंश है जिसमें किसी बात को युक्ति-प्रयुक्ति के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है , दूसरे उससे दर्शकों का मनोरंजन होता है ।

अतः ऐसा लगता है कि योरोप से आयातित इस नये साहित्य में उपर्युक्त दोनों बातों को पाकर हमारे विद्वानों ने उसे "उपन्यास" कहा होगा । उपन्यास में बात को युक्ति द्वारा कहने की प्रवृत्ति तो रहती ही है । उपन्यास केवल कथा नहीं है । "इट इज़ नोट मियरली ए स्टोरी , इट इज समथिंग बियोण्ड द स्टोरी . " वह कथावस्तु से कुछ ऊपर की बात है । यह ऊपर की बात क्या है ? उपन्यास में कथा के द्वारा लेखक कोई संदेश ,

कोई मैसेज देना चाहता है । पर यह संदेश , यह मैसेज वह सीधे-सीधे नहीं देता । वह इसे कथा द्वारा , चरित्रों द्वारा ध्वनित करता है , अभिव्यंजित करता है । उसमें एक विचारधारा , चिंतन -प्रवाह होता है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी उपन्यास में अभिव्यंजित चिंतन या जीवन-दर्शन को अत्यन्त प्राधान्य देते हैं । उनके मतानुसार बिना चिंतन या जीवन-दर्शन के उपन्यास की गणना "घासलेटी साहित्य" में हो सकती है । अभिप्राय यह कि उपन्यास को उपन्यास बनानेवाली बात तो यह है ।

पहले के किसी भी युग की तुलना में आधुनिक युग अनेक विचार-प्रवाहों का , चिंतन-धाराओं का , युग रहा है । और यह प्रक्रिया पहली बार वैश्विक धरातल पर हुई है । अतः आधुनिक युग को यदि हम विचारों का , विचारधाराओं का , युग कहें तो उसमें अत्युक्ति न होगी । उपन्यास इन नये विचार-प्रवाहों का संवाहक होकर आया है । भारतीय परिवेश में भी नवजागरण काल वैचारिक उथल-पुथल का समय रहा है । समाज एक नयी करवट लेता है । प्राचीन परंपरागत सामाजिक रूढ़ियों पर कुठाराघात होता है । नये विचार जहाँ सामंतवादी समाज और सोच पर हमला करते हैं , वह ँ सहस्त्राधिक वर्षों से शोषित व पीड़ित वर्गों को उससे नया उत्साह प्राप्त होता है । एक नयी तरंग , एक नयी लहर दौड़ पड़ती है । अतः नवजागरण के पश्चात् नये विचारों को प्रवाहित करने में उपन्यास सहायक होता है । उसके लिए यह वातावरण उर्वरक सिद्ध होता है ।

दूसरी बात जो उसमें कही गयी थी , वह उसके मनोरंजन पक्ष को लेकर है । उपन्यास से लोक-रंजन तो होता ही है । उपन्यास आज सबसे ज्यादा पढ़ी जाने वाली विधा है । परंतु यहाँ लोक-रंजन पर विचार करना होगा । यह लोक-रंजन परिस्कृत प्रकार का

होगा । तभी तो प्रेमचन्द ने चिढ़कर कहा था कि केवल मनोरंजन तो मदारियों और जादूगरों का काम है । यहाँ "केवल" शब्द पर ध्यान देने की आवश्यकता है । प्रेमचन्दपूर्वकाल में देवकीनंदन खत्री तथा बाबू गोपालराम गहमरी जैसे अक्षमधाम उपन्यासकार हो गये, जिन्होंने उपन्यास को केवल मनोरंजन का विषय बना दिया था । उपन्यास किस्से-कहानियों में खो गया था । उपन्यास पथभ्रष्ट हो गया था । उपन्यास को पढ़ने से आनंद की प्राप्ति होती है और हमें आनंद और मनो-विनोद में अंतर करना होगा । गुलशन नंदा, दत्त भारती, कर्नल रंजित, कुशवाहा को पढ़ते समय आपका मनो-विनोद तो हो सकता ह्र है, आपको लोकोत्तर आनंद की प्राप्ति नहीं हो सकती । अभिप्राय यह कि यह परिष्कृत प्रकार का आनंद, सुसंस्कृत आनंद विश्व-साहित्य की उत्तम औपन्यासिक कृतियों में प्राप्त होता है ।

उपन्यास तो व्यक्ति और समाज में की रगों में दौड़ने वाला रक्त है । मनुष्य जो कुछ भी खाता-पीता है । वह पच-पच कर खून बनता है । ठीक उसी प्रकार बड़े लेखक, महान लेखक, जो कुछ पढ़ते-लिखते-सुनते हैं, वह रक्त बनकर उनकी कृतियों में दौड़ता है । अतः जब भी हम एक महान लेखक को पढ़ते हैं, एक नये विश्व से परिचित होते हैं । सर्वान्तीस, डिफो, जेन आस्टिन, वाल्टर स्कोट, टाल्सटाय, दोस्तोएवस्की, जेम्स जायस, गोगोल, बाल्जाक, तुर्गनेव, टैगोर, शरद, मुंशी, खांडेकर, पन्नालाल आदि को जब हम पढ़ते हैं, तो आनंद की प्राप्ति होती है ।

हमारे यहाँ काव्य या साहित्य के जो प्रयोजन बताए हैं उनमें तीन मुख्य हैं — आनंद की प्राप्ति, अनिष्ट का निवारण और व्यवहार का ज्ञान । आनंद-प्राप्ति की बात ऊपर कही गई है । अनिष्ट का निवारण उपन्यास में एक नये तरीके से हमें मिलता

है । उपन्यास समाज के अनिष्टों की बात करता है । समाज में जो भी असंगत है, खराब है, कोढ़-समान है, कलंक-रूप है, उपन्यास प्रत्यक्ष या परोक्ष तरीके से उसका विरोध करता है । परोक्ष या कलात्मक तरीके से यदि यह होता है, तो उसे अधिक वांछनीय समझा जाता है । एक मनुष्य को, दूसरे मनुष्य के साथ कैसे व्यवहार करना चाहिए उसके संस्कार भी वह देता है । व्यवहार-ज्ञान का एक अर्थ समाज-ज्ञान भी होता है । विविध देशों और प्रदेशों के उपन्यासकारों द्वारा हम बिना वहाँ गए, वहाँ के समाज से, लोगों से, उनके रीति-रिवाजों से, उनकी सभ्यता और संस्कृति से परिचित हो सकते हैं । पन्नालाल को पढ़ लो, आप गुजरात से परिचित हो जाएंगे । रेणु और नागार्जुन बिहार से परिचित कराते हैं, मेघाणी काठियावाड तथा टैगोर-शरद [illegible] बंगाल से हमारी अंतरंगता बढ़ा देते हैं । कहते हैं मनुष्य का अध्ययन मनुष्य द्वारा ही संभव है, और उपन्यास मनुष्य को पहचानने का उसका अध्ययन करने का एक तरीका नहीं तो और क्या है ? तभी तो कार्ल मार्क्स ने बाल्ज़ाक के बारे में कहा था कि मैं फ्रान्स को जितना वहाँ के समाजशास्त्रियों, इतिहासकारों, विद्वानों, शिक्षा-शास्त्रियों के द्वारा जान पाया ; उससे कई गुना ज्यादा बाल्ज़ाक के द्वारा जान-समझ पाया हूँ । यद्यपि अत्युक्ति है, पर उस कथन में किंचित सत्य भी है कि इतिहास में तिथियों और नामों के अतिरिक्त कुछ भी सही नहीं होता और साहित्य में तिथियों और नामों के अलावा सबकुछ सही होता है । यह बात उपन्यास पर सविशेष लागू की जा सकती है । उपन्यास में अपने समय का इतिहास उसके यथार्थ रूप में मिलता है । प्रेमचन्द के उपन्यास प्रेमचन्द के समय का आईना है । किन्हीं कारणों से यदि उस समय का इतिहास लुप्त हो जाए, तो प्रेमचन्द के उपन्यास और कहानियों के द्वारा उसे पुनर्जीवित

किया जा सकता है ।

अतः कहा जा सकता है कि एक सामान्य प्रकार का, सतही, सामान्य स्तर का, उपन्यास लिखना जहाँ बाएँ हाथ का खेल है, और ऐसा एक उपन्यास तो प्रायः सभी लिख ही सकते हैं, जिनको भी लिखने का थोड़ा अभ्यास है; परन्तु एक अच्छा, स्तरीय, साहित्यिक, उच्च कोटि का उपन्यास लिखना लोहे के चने चबाने जैसा मुश्किल कार्य है । आईफोर ईवान ने बिलकुल सही कहा है : " थो द नोवेल इज़ ए ग्रेट आर्ट, इट इज़ ऑल्सो एन आर्ट व्हिच एडमिट्स आफ मच मोर मिडियोकर टैलेण्ट. " अतः उसके लेखकों में जहाँ एक ओर संसार के महान मनीषी एवं प्रतिभा-संपन्न लोग मिलते हैं, वहाँ दूसरी ओर व्यावसायिक वृत्ति वाले सामान्य जन भी हैं ।

हमारे प्रबंध का विषय उन उपन्यासों से सम्बद्ध है जिनमें पूर्णतया या आंशिक रूप से महानगरीय जीवन के नाना आयाम उपलब्ध होते हैं । मनुष्य, मनुष्य है और जीवन जीवन । उसकी मूलभूत वृत्तियाँ तो प्रायः सर्वत्र एक-सी होती हैं; तथापि देश-काल का प्रभाव तो उस पर पड़ता ही है । उसके कारण धारणाओं, मान्यताओं, विचारों, बह जीवन-मूल्यों या अवमूल्यों में बदलाव पाया जाता है ।

पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि उपन्यास उसके उद्भव-स्थान योरोप में भी एक नयी विधा रही है । उत्क्रान्ति {रेनेसां} के उपरांत जो वैज्ञानिक सोच, प्रौद्योगिकी का विकास, औद्योगीकरण, नगरीकरण की क्षिप्रगामी प्रक्रिया प्रारंभ हुई, उसके कारण समाज के ढाँचे में आमूलचूल परिवर्तन आये, समाज और लोग अधिक पेचीदा और जटिल {काम्पलेक्स} होते गये । तब उस

जटिल सामाजिक-संरचना के स्थापन हेतु एक नये साहित्य प्रकार की आवश्यकता का अनुभव हुआ और उसकी पूर्ति हेतु उपन्यास का उद्भव पश्चिम में हुआ ।

सर्वप्रथम उपन्यास का कुछ आभास हमें इटली के लेखक बोका-सियो के "डेकामेरोन " में मिलता है । फ्रांसीसी लेखक राबले की व्यंग्य-विनोद से परिपूर्ण कृति -" गार्गान्तुआ एण्ड पान्तागुरल " उसीका अगला चरण है । इन कृतियों का विकास स्पेनिश लेखक सर्वान्तिस में मिलता है । सर्वान्तीस की विश्वविख्यात कृति "डोन क्विक्झोटे " इस दिशा में उठा एक महत्वपूर्ण कदम है । ये सब प्रारंभ की कृतियाँ हैं । इन्हें हम एकदम उपन्यास तो नहीं, पर उपन्यास के समीप की रचनाएं कह सकते हैं ।

उपन्यास का निर्भ्रान्ति रूप तो "रोबिनसन क्रूसो" के लेखक डेनियल डिफो में मिलता है । डिफो के अलावा रिचार्डसन ,फील्डिंग, स्मालेट और स्टर्न आदि लेखक पाश्चात्य उपन्यास के विकास को आगे ले जाते हैं । इनमें डिफो , फील्डिंग और स्मालेट जहाँ बाह्य या सामाजिक यथार्थ को चित्रित कर रहे थे , वहाँ रिचर्डसन और स्टर्न आंतरिक भावनाओं के , आंतरिक यथार्थ या चैतसिक यथार्थ के चित्रण में लगे थे । वस्तुतः ये दोनों परंपराएं उपन्यास के आरंभ काल से वहाँ भी मिलती हैं और अपने यहाँ भी मिलती है । अपने यहाँ जहाँ प्रेमचन्द , यशपाल , रेणु, नागार्जुन , शैलेश की परंपरा है ; वहाँ जैनेन्द्र , अज्ञेय की परंपरा भी है । कुछ लेखक इनके बीच में आते हैं ।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वहाँ जेन आस्टिन और वाल्टर स्कोट आते हैं । जेन आस्टिन जहाँ "प्राइड एण्ड प्रेज्युडाइस" में अपने सम्भ्रान्त-अभिजात वर्ग की मार्मिकताओं को अभिव्यक्त करती है , वहाँ स्कोट अपने प्रदेश की ममता में डूबे हुए उसकी शौर्य-गाथाओं

का चित्रण कर रहे थे । करना ही चाहें तो इन दो साहित्य के महारथियों की तुलना अपने यहाँ के जैनेन्द्र और वृन्दावनलाल वर्मा से कर सकते हैं ।

आस्टिन और स्काट के उपरांत पाश्चात्य उपन्यासकारों में थैकरे, डिकिन्स, मेरीडीथ, टामस हार्डी, विक्टर ह्यूगो, फ्लाबेयर, गोगोल, बाल्जाक, तुर्गेनेव, टाल्सटाय, दोस्तोएवस्की, एच.जी. वेल्स, डी.एच. लारेन्स, वर्जीनिया वुल्फ, मार्सेल प्रूस्त, जेम्स जायस, हक्सले, ई.एम. फारस्टर, फाकनर, हेमिंग्वे, पास्तरनाक, गोर्की, सोल्जे निित्सिन आदि लेखकों की परिगणना कर सकते हैं । इन विश्वविख्यात लेखकों ने न केवल अपने देश या प्रदेश में वैचारिक प्रबुद्धता को जगाया है, बल्कि समूचे विश्व में विचारों का एक प्रवाह बहाया है । आधुनिक विश्व उन्हीं के द्वारा रचा हुआ हम कह सकते हैं । इन महारथियों की नामावली में हम अपने यहाँ के टैगोर, शरद, मुंशी प्रेमचन्द, खांडेकर, पन्नालाल आदि के नाम संलग्नित कर सकते हैं ।

हिन्दी उपन्यास का विकास "इण्डियन रेनेसां", नवजागरण काल के उपरांत हुआ । हिन्दी उपन्यास को गौरवान्वित करने में मुंशी प्रेमचन्द के योगदान को नकारा नहीं जा सकता । हिन्दी उपन्यास और हिन्दी कहानी की चर्चा प्रेमचन्द के उल्लेख के बिना संभव ही नहीं है । वे सचमुच एक युगनिर्माता साहित्यकार हैं । अतः उपन्यास और कहानी उभय में प्रेमचन्द को मध्य में रखकर ही बात होती रही है और यह सही भी है । फलतः हिन्दी उपन्यास के विकास की बात करते समय उसे तीन खण्डों में प्रायः विभाजित किया गया है — पूर्वप्रेमचन्दकाल, प्रेमचन्दकाल और प्रेमचन्दोत्तर काल ।

पूर्वप्रेमचन्दकाल में सन् 1877 से माना गया है । प्रेम-

चंद का आविर्भाव हिन्दी में सन् 1918 से माना जाता है । अतः सन् 1877 से 1918 तक के कालखंड को उपन्यास-साहित्य के इतिहास में ~~प्रेमचन्दपूर्वकाल~~ पूर्वप्रेमचन्दकाल के नाम से अभिहित किया गया है । हिन्दी का प्रथम उपन्यास पं. श्रद्धाराम फुल्लौरी कृत "भाग्यवती" सन् 1877 में प्रकाशित हुआ था । हिन्दी के कुछ विद्वान लाला श्रीनिवासदास कृत-"परीक्षागुरु" को हिन्दी का प्रथम उपन्यास मानते हैं । परन्तु अब यह लगभग प्रस्थापित हो चुका है कि भाग्यवती ही हिन्दी का प्रथम उपन्यास है ।

विचारधारा की दृष्टि से इस काल में दो प्रकार के लेखक मिलते हैं — नवसुधारवादी और पुरातनपंथी । औपन्यासिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से विचार करें तो इसमें पांच औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ मिलती हैं — सामाजिक उपन्यास , ऐतिहासिक उपन्यास, जासूसी उपन्यास ~~और~~ , तिलस्मी उपन्यास और अनूदित उपन्यास । इस काल का उपन्यास ~~[illegible]~~ कलात्मक दृष्टि से अपरिपक्व है । उसमें चरित्र-चित्रण की प्रवृत्ति भी कम मिलती है ।

वस्तुतः उपन्यास का समुचित विकास प्रेमचन्दयुग में हुआ । इस काल की प्रमुख दो प्रवृत्तियाँ हैं — सामाजिक उपन्यास और ऐतिहासिक उपन्यास । प्रेमचन्दकाल सन् 1918 से 1936 तक माना गया है । आठ अक्तूबर सन् 1936 को प्रेमचन्द का निधन हुआ था । प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को उसका वास्तविक गौरव दिलवाया और लेखकों की एक सुरुचि पीढ़ी को तैयार किया , इसलिए उनको युगनिर्माता साहित्यकार कहा जाता है । प्रेमचन्द में हमें एक क्रमिक विकास मिलता है । उनकी प्रमुख रचनाओं में "सेवासदन" , " वरदान " , "प्रतिज्ञा" , निर्मला " , "गबन" , प्रेमाश्रम , कायाकल्प , रंगभूमि , कर्मभूमि , गोदान, मंगलसूत्र (अपूर्ण) आदि हैं । उनकी औपन्यासिक कला का सर्वोत्कृष्ट शिखर "गोदान" है ।

प्रेमचन्दयुग के लेखकों में सर्वश्री विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, पांडेय बेचन शर्मा "उग्र", जैनेन्द्र जैन, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, सियारामशरण गुप्त, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, जयशंकर प्रसाद, तेजोरानी दीक्षित, उषादेवी मित्रा आदि हैं। इन लेखकों ने तत्कालीन सामाजिक समस्याओं को लेकर उपन्यासों की रचना की है। उनका लेखन प्रायः सोद्देश्य रहा है। सामाजिक-समस्यामूलक उपन्यासों का जादू उन पर इतना सवार था कि बाद में जो ऐतिहासिक उपन्यासकारों के रूप में माने गये ऐसे वृन्दावनलाल वर्मा तथा आचार्य चतुरसेन शास्त्री भी उससे अछूते नहीं रहे और प्रेमचन्दयुग में उन्होंने कई सामाजिक उपन्यास दिये।

प्रेमचन्दोत्तर युग सन् 1936 के बाद से माना जाता है। उसमें हमें प्रमुखतया निम्नलिखित औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं — सामाजिक उपन्यास, ऐतिहासिक उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास, समाजवादी उपन्यास, आंचलिक उपन्यास, राजनीतिक उपन्यास, पौराणिक उपन्यास, व्यंग्यात्मक उपन्यास, साठोत्तरी उपन्यास और समकालीन उपन्यास। इनमें अंतिम दो में काल-विषयक अवधारणा को भी लिया गया है।

हमारा विषय महानगरीय उपन्यासों से सम्बद्ध है। अतः यहाँ औद्योगीकरण और नगरीकरण की प्रक्रिया पर भी विचार हुआ है। सन् 1921 से भारत में नगरीय जनसंख्या में निरंतर वृद्धि होती गई है। नगरीकरण ने मनुष्य के स्वास्थ्य, परिवार, विवाह-संस्था, जातिप्रथा, अपराधवृत्ति, मनोरंजन-पद्धतियाँ, जीवन-पद्धतियाँ आदि सभी को किसी-न-किसी रूप में प्रभावित किया है। इसके कारण व्यक्तिवाद को बढ़ावा मिला है और सामाजिक-विघटन

की प्रक्रिया अधिक क्षिप्र हो गई है । नगरीय व्यक्ति प्रकृति से कट जाता है । उसके जीवन में कृत्रिमता का प्रवेश होने लगता है । जीवन-मूल्यों में विघटन दृष्टिगत होता है और मानव-जीवन अधिक जटिल हो जाता है । "विषय-प्रवेश" में इनकी विस्तृत चर्चा की गई है ।

दूसरे अध्याय में महानगरीय परिवेश के विभिन्न आयामों तथा महानगरीय जीवन-मूल्यों या अमूल्यों को केन्द्रस्थ करते हुए लगभग 20-25 उपन्यासों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है , जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं : वे दिन , अँधेरे बन्दकमरे , आपका बण्टी, टेराकोटा , रेखा , अनदेखे अनजान पुल , कड़ियाँ , बैसाखियोंवाली इमारत , अठारह सूरज के पौधे , पचपन खंभे लाल दीवारें , रुकोगी नहीं राधिका , डाक बंगला , तीसरा आदमी , कुहरेकी , बेघर, उसके हिस्से की धूप , चित्तकोबरा , रेत की मछली , पतझड़ की आवाजें , बँटता हुआ आदमी , नावें , सीढ़ियाँ , ढहती दीवारें आदि आदि ।

महानगरीय जीवन के दबाव तथा पारिस्थितिक विवशताओं के कारण पारिवारिक विघटन हुआ है । संयुक्त परिवार टूटकर बिखर रहे हैं । परिवार विषयक विभावना ही बदल गई है । परिवार निरंतर सिकुड़ रहा है । पहले माँ-बाप का शुमार भी परिवार में होता था । अब परिवार पति-पत्नी और बच्चे तक सीमित हो गया है । युग्मक परिवार की स्थिति आ गई है । युग्मक-परिवार के कारण दाम्पत्य-जीवन पीड़ित होने लगा है । किसीको कोई कहने-सुनने वाला नहीं रहा । अतः सामाजिक-पारिवारिक अंकुश समाप्त हो गया । एकक-परिवार के कारण भी दाम्पत्य-जीवन पर बुरा असर पड़ता है । एकक-परिवार के सदस्य युग्मक परिवार में सेंध लगाते हैं । जो नारियाँ दाम्पत्य-सुख से वंचित

रह जाती हैं, कालान्तर में"लैडिस्ट" होकर वे दूसरों के दाम्पत्य-जीवन में आग लगाती हैं। प्रेमहीनता, मूल्य-विघटन, पति-पत्नी के बीच तीसरे व्यक्ति का प्रवेश, शिक्षित पति-पत्नी में "ईगो" की समस्या आदि कारणों से महानगरों में दाम्पत्य-जीवन छिन्न-भिन्न हो रहा है, किन्तु उसका सबसे बुरा प्रभाव बच्चों पर पड़ रहा है। यह भी रेखांकित हुआ है कि उच्चवर्ग, मध्य-वर्ग और निम्नवर्ग की दाम्पत्य-विषयक समस्याओं में भिन्नता पाई जाती है।

महानगरीय जीवन का एक पक्ष कामकाजी महिलाओं का है। इसका अर्थ यह कदाई नहीं कि नगरों या कस्बों में महिलाएं कामकाजी नहीं होतीं। यहाँ प्रश्न केवल परिमाण का है। महानगरों में कामकाजी महिलाओं का प्रतिशत अधिक होता है। उन महिलाओं को कामकाजी कहा जा सकता है जो अर्थोपार्जन के लिए उत्पादक बौद्धिक या शारीरिक श्रम करती हैं। कामकाजी महिलाओं का श्रेणी-विभाजन उच्च, मध्य और निम्न वर्ग के रूप में किया जा सकता है। निम्नवर्ग में भी दो श्रेणियां होती हैं - निम्न और अति-निम्न। कामकाजी महिलाओं को दोहरे उत्तरदायित्व का वहन करना पड़ता है, फलतः उनका मानसिक और शारीरिक शोषण होता है। कामकाजी महिलाओं का यौन-शोषण एक आम बात है। प्रथम वर्ग में यह प्रवृत्ति कम दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि वहाँ तक पहुँचने के लिए कई बार उसे दैहिक-शोषण से गुजरना पड़ता है। मध्यवर्ग और निम्नवर्ग में यौन-शोषण का अनुपात ऊँचा है। कहीं-कहीं यह शोषण महिलाओं की लाचारी के कारण होता है, तो यह भी देखा गया है कि कहीं-कहीं महिलाएं वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु, या उच्च पद पाने के लिए स्वयं अपना यौन-शोषण होने देती हैं। बल्कि यों कहना चाहिए कि अपनी वैयक्तिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए वे देह को माध्यम बनाती हैं। फलतः महानगरीय परिवेश की कामकाजी

महिलाओं में यौन-मुक्तता का प्रमाण अधिक परिलक्षित होता है ।

कामकाजी महिलाओं में कुछ ऐसी महिलाएं भी होती हैं जो अपनी आर्थिक-पारिवारिक विवशताओं के कारण अविवाहित रहने के लिए अभिशप्त हैं । इनमें से कुछेक बीच का कोई मार्ग तलाश लेती हैं, पर जो ऐसा नहीं कर पातीं वे घुटन और संत्रास की भयावह स्थितियों से गुजरती हैं । महानगरीय उन्मुक्तता तथा नवीन वैचारिक प्रवाहों के कारण महानगरीय कामकाजी महिलाओं में रूढ़िमुक्त नारियों का प्रमाण बढ़ रहा है । कामकाजी महिलाओं में जहाँ एक ओर कार्य-प्रतिबद्ध [कमिटेड] और निष्ठावान महिलाएं पायी जाती हैं, वहाँ दूसरी ओर कुछ कामचोर, चापलूस और अयोग्य महिलाएं भी मिलती हैं । प्रथम वर्ग की महिलाओं में नारी-गौरव और अस्मिता के दर्शन होते हैं । उनमें जीवट और जुझारूपन होता है । दूसरे वर्ग की महिलाएं अपने देह को माध्यम बनाकर आगे बढ़ने के मार्ग का अन्वेषण करती हैं ।

प्रायः देखा गया है कि महानगरीय जीवन में अनेक प्रकार के मानसिक दबाव होते हैं । ग्राम्य और कस्बाई परिवेश का व्यक्ति सोचता है कि महानगर में सब अमन-चमन और मौज-मस्ती है । पर महानगरों में जीवन कितना कठिन और जटिल है, यह तो केवल महानगरीय व्यक्ति ही जानता है । युग्मक और एकल-परिवार की स्थिति, असुरक्षा की भावना, निरंतर भागती-दौड़ती जिन्दगी, अति-व्यस्तता, अनेक प्रकार के प्रदूषण, यातायात की परेशानियां, मकान की समस्या, कौमी दंगों की समस्या, माफिया डॉनों का त्रास और आतंक जैसी स्थितियों के कारण महानगरीय व्यक्ति हमेशा तनावग्रस्त अवस्था में मिलता है । उसके कारण वह नाना प्रकार की शारीरिक-मानसिक व्याधियों से ग्रस्त रहता है ।

आजका महानगरीय व्यक्ति अकेला, खण्डित और अजनबी है । वह टूट रहा है । हरेक के अपने-अपने नरक हैं ।

छठे अध्याय में विशेषतया इस अजनबीपन को ~~रेखांकित~~ रेखांकित किया गया है । एक तरफ विपुल संपन्नता का विष है, तो दूसरी तरफ भयंकर दरिद्रता की वैतरणी है । पश्चिम में हेगेल, फायरबाख तथा मार्क्स ने समाज को केन्द्र में रखते हुए अजनबीपन के भाव को व्याख्यायित किया है ; तो कीर्केगार्द, सार्त्र, दोस्तोव्स्की, पीटर मेस्लेट, एरिक फ्राम, जार्ज सिमेल, लूइस ममफोर्ड आदि लेखकों तथा चिंतकों ने वैयक्तिक दृष्टिकोण से अजनबीपन को समझाने की चेष्टा की है । प्रायः सभी महानगरीय परिवेश के उपन्यासों में किसी-न-किसी पात्र में हमें अजनबीपन का भाव मिलता है ।

भौतिकता का बढ़ता हुआ आग्रह, इन्सानी मोहब्बत के स्थान पर चीजपरस्ती, टूटते-चरमराते-चरमराते पारिवारिक-मानवीय संबंध, स्वार्थप्रेरित स्वकेन्द्रीयता, मनुष्य का मशीनीकरण, शीत-संबंध, पारिवारिक-वैयक्तिक-सामाजिक अलगाव, अकेलेपन की यंत्रणा, मूल्यों में जीनेवाले व्यक्ति के "मिसफिट" होते जाने की समस्या प्रभृति कारणों से महानगरीय व्यक्ति टूट-बिखर रहा है ।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध-प्रबंध में महानगरीय जीवन पर आधारित उपन्यासों को केन्द्र में रखकर महानगरीय जीवन के कतिपय आयामों तथा महानगरीय जीवन की मानव-समस्याओं पर विचार किया गया है । उपन्यासों में जिन घटनाओं और चरित्रों का निरूपण है उनके आधार पर महानगरीय मानव-जीवन के कुछ पक्षों को उद्घाटित करने का यत्न हुआ है । इन पक्षों में दाम्पत्य-जीवन की समस्याओं, महानगरीय परिवेश में कामकाजी महिलाओं की समस्याएँ, महानगरीय परिवेश के लोगों में मानसिक दबाव का बढ़ता हुआ प्रमाण, अजनबीपन की भावना इत्यादि को उकेरा गया है । यथासंभव उपन्यासों में प्राप्त प्रमाणों सहित उन्हें पुष्ट और विश्लेषित करने का प्रयत्न

किया गया है । षष्ठ अध्याय में अन्य अध्यायों में असंकलित ऐसी कुछ अन्य समस्याओं को भी समेकित किया है ।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य को लेकर पुष्कल परिमाण में शोध-कार्य हुआ है । " हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद " (डा. त्रिभुवन सिंह), " हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन " (डा. एस. एन गणेशन), " हिन्दी उपन्यास पर पाश्चात्य प्रभाव " (डा. भारतभूषण अग्रवाल), " हिन्दी उपन्यास साहित्य की विकास परंपरा में साठोत्तरी उपन्यास " (डा. पारुकान्त देसाई), " हिन्दी उपन्यासों में रूढ़िमुक्त नारी " (डा. राजरानी शर्मा), " हिन्दी उपन्यास में कामकाजी महिला " (डा. रोहिणी अग्रवाल) आदि ऐसे कुछ उल्लेखनीय कार्य हैं । संदर्भिका में विस्तृत सूची संलग्नित है । परन्तु प्रस्तुत अध्ययन में मैंने केवल उन उपन्यासों को लिया है जिनमें महानगरीय जीवन को उकेरा गया है । साहित्य में किया गया कोई भी कार्य पूर्णरूपेण सम्पूर्ण नहीं होता , क्योंकि साहित्य संभावनाओं का क्षेत्र है । विज्ञान , प्रौद्योगिकी या किसी शास्त्र की भाँति काव्य या साहित्य में किए गए शोध-कार्य का स्वर निश्चयात्मक भी नहीं होता , क्योंकि शास्त्र-सी कोरा निश्चयात्मकता यहाँ नहीं होती । " दो और दो मिलकर चार" वाली बात यहाँ चरितार्थ नहीं होती । वस्तुतः काव्य या साहित्य पूर्ण-विराम नहीं "डोट डोट डोट " (......) है । अतः महानगरीय जीवन को लेकर और दिशाओं में शोध-कार्य हो सकता है । कहानी को लेकर काम हो गया है । पर किसी अन्य विधा को लेकर हो सकता है , या किसी वर्ग-विशेष को लेकर समाजशास्त्रीय अध्ययन हो सकता है । उसकी भाषा को लेकर , मनोवैज्ञानिक समस्याओं लेकर कार्य हो सकता है ।

बहरहाल मैं अपनी शक्ति और सामर्थ्य की सीमाओं से भलीभाँति परिचित हूँ । अतः विद्वज्जनों, साहित्य के सुधी समीक्षकों तथा अध्यक्षाओं के समक्ष प्रथमतः नतमस्तक हूँ । अपनी अपूर्णता, स्वल्पज्ञता एवं त्रुटियों और दोषों के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ । अन्ततः यही निवेदित करना चाहती हूँ कि मेरे इस कार्य से हिन्दी औपन्यासिक आलोचना, शोध और विमर्श को यदि किंचित भी गति मिली तो मैं अपने परिश्रम व अध्यवसाय को सार्थक समझूँगी ।

—: इति शुभम् :—